क्षय

राम आह्लाद चौधरी

वैचारिक पक्षधरता के परिप्रेक्ष्य में वतन के विभाजन की त्रासदी

ताड़ का तिल है, तिल का ताड़ है
पब्लिक की पीठ पर बजट का पहाड़ है
किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है
कौन यहां सुखी है, कौन यहां मस्त है
सेठ ही सुखी है, सेठ ही मस्त है
मंत्री ही सुखी है, मंत्री ही मस्त है
उसी की है जनवरी, उसी का अगस्त है।

-नागार्जुन

देश का विभाजन हुआ, भारत आजाद हुआ। इस आजादी को लेकर विभिन्न तरह के मत सामने आए। उन तमाम मतों को एक मंच पर एकत्रित करना कठिन है। उन सभी मतों में से किसी एक मत को बेहतर या कमतर मानना बिल्कुल असंगत है। ऐसी स्थिति में देश के विभाजन के बाद से लेकर 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक के अन्त तक जितनी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं, उन सभी रचनओं का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन अपेक्षित हो जाता है, लेकिन इस अध्ययन से वह मकसद सामने नहीं आ पाता जिसकी अपेक्षा भारतवासियों ने की है। खासकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'शिक्षित जनता' जो अपेक्षाएं रखती है। आमतौर पर विभाजन की त्रासदी पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अध्ययन के सिलसिले में त्रासदी का विश्लेषण करना तथा उसके प्रभावों से मुक्त होने की प्रक्रिया को तेज करना निश्चित तौर पर सराहनीय हस्तक्षेप है। इस हस्तक्षेप का असर पिछले 64 सालों से देखा जा रहा है तथा आने वाले समय में उसकी खासियत पर चर्चा होगी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विशेष अध्याय के तौर पर उसे 'शिक्षित जनता' के समक्ष प्रस्तुत करने की पूरी कोशिश होनी चाहिए जिसकी पूरी संभावना है। जब-जब आजादी पर चर्चा होगी तब-तब विभाजन की त्रासदी सामने आएगी। उस त्रासदी का रूप-रंग चिन्ताजनक है। उसकी

भयावहता सर्वविदित है। जैसे ही 15 अगस्त, 1947 पर बातचीत आरंभ होती है, वैसे ही एक सवाल खड़ा हो जाता है कि देश का विभाजन क्यों हुआ? इस विभाजन के पीछे किसका हाथ था या किस साजिश के चलते हमारा प्यारा हिन्दुस्तान भारत और पाकिस्तान के नाम से परिचित होने लगा? क्या यह पीड़ा पहली बार महसूस हुई? इससे पहले भी बंगाल का विभाजन हुआ और बाद में भी मुल्क खंड-विखंड हुआ। बांग्लादेश बनने की ओर साफ संकेत है। हर विभाजन प्रक्रिया को तेज करना जनतंत्र पसन्द-धर्मनिरपेक्ष जनता का कर्त्तव्य हो जाता है। इस कर्त्तव्य निर्वाह के सिलसिले में साहित्यकारों की भूमिका सबसे बड़ी हो जाती है। इसलिए देश के विभाजन पर साहित्यकार अपनी रचनाओं के जरिये एक महत्वपूर्ण यथार्थ को सामने लाने की कोशिश करते हैं, क्योंकि इस कोशिश के बिना मानव सभ्यता की विकासधारा अवरुद्ध हो जाती है और जब मानव सभ्यता की विकास धारा हो बाधित हो जाए यानि उसके समक्ष गतिरोध पैदा हो जाए, तब यही सवाल उठता है कि उस गतिरोध को किस तरह हटाया जाए। मुकाबला किए बिना उसे हटाना नामुमकिन है। ऐसे समय में इस तरह के गतिरोधों से मुकाबला करने की ताकत सिर्फ साहित्यकारों में होती है। इसलिए कि उनके पास विचार होते हैं। वैसे तो विचार सर्वत्र हैं, पर साहित्यकारों के विचार निष्कलंकित होते हैं। साथ ही, सृजनशीलता वर्तमान की समस्याओं को अपने विचार के जरिए दरकिनार करने की पूरी क्षमता रखती है।

अभिप्राय यही है कि अनुभवों का विचार पुंज मानव सभ्यता को नई दिशा देता है। वह घोर संकट के काल में भी विकल्प देने में पूरी तन्मतयता दिखाता है और उस विचार को अपनी परम्परा होती है, जिस परम्परा को कोई विभाजित नहीं कर सकता, उस पर हमले होने की घटना बराबर आती रहती है पर उन हमलों से उसकी धारा अवरुद्ध नहीं होती बल्कि उसकी गति बढ़ जाती है। उसकी परिपक्वता और बढ़ जाती है और सुगन्धित हो जाती है। यही खुशबू उस विचारधारा की विशेषता है। इसके बिना साहित्य पर चर्चा करना बेकार है। यही वह विशेषता है, जिसके चलते साहित्य अपने भीतर इतिहास और दर्शन को समेटे हुए रहता है। सतही तौर पर पाठ और पुनर्पाठ करने वाले अध्येयताओं के लिए यह समझ सात अंधों के बीच हाथी बने रहती है। विचारधारा के बिना साहित्य अपनी यात्रा नहीं कर पाता, हालांकि उसका प्रस्थान बिन्दु जहां भी हो, जैसा भी हो।

हिन्दी साहित्य ही नहीं बल्कि उसकी हर विधा पर देश के विभाजन की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। एक टीस है। अनन्त पीड़ाएं हैं। समय गुजरता चला जा रहा है, पर उस दर्द की दवा नहीं मिल रही है। छटपटाहट बरकरार है। शायद उसका उपचार हो। पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुजरती चली जा रही है। चारों ओर हाहाकार है। आर्तवाणी के चलते कान के पर्दे

Scanned with CamScanner

फटते चले जा रहे हैं। अन्याय-उत्पीड़न देखते-देखते आंखों की गति रुक जा रही है। लगता है कि एक ऐसे जंगल में आ खड़े हुए हैं, जहां से निकलना असंभव है। हर विकास का स्वाद ग्रहण करने के बावजूद लगता है कि विनाश पीछा नहीं छोड़ रहा है। व्यापक स्तर पर इससे पीछा छुड़ाने का प्रयास भी नहीं दिखता है। हालांकि विभिन्न जगहों पर इसके सम्बन्ध में बहस होती है। बहस का निष्कर्ष ठोस नहीं होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इस बहस में लोग हिस्सा लेते हैं। लोग यह सोचने की कोशिश करते हैं कि किसी तरह से साहित्य में आम जनता के संघर्ष की स्थिति बरकरार रहे। साहित्य आम जन की हिस्सेदारी को नाकाम नहीं करता है। साहित्य मानवीय मूल्यों को जिस तरह से सुरक्षित रखता है ठीक उसी तरह से जनतांत्रिक मूल्यों को स्थापित करता है तथा धर्मनिरपेक्षता की बुनियाद को मजबूत करता है। जब धर्मनिरपेक्षता और मानवीय मूल्यों को स्थापित करने के लिए जद्दोजहद साहित्य में दिखता है, तब यह स्पष्ट होता है कि विभाजन की त्रासदी को कम करने की खातिर सृजनात्मक स्तर पर किस तरह की चेष्टाएं आरम्भ हुई हैं।

पिछले 64 सालों में 'स्वाधीनता' की अवधारणा, 'स्वाधीनता और साहित्य के सम्बन्ध', 'साहित्य और विचारधारा' के रिश्ते पर गहराई से विचार-विमर्श चल रहा है। गंभीरता से यह महसूस किया जा रहा है कि देश के विभाजन से समाज, संस्कृति और साहित्य को अपार नुकसान हुआ है। इस नुकसान की भरपाई दो भाषाओं के झगड़े को कम करने या दो समुदायों के बीच राजनीतिक टकराहट को बन्द करने से नहीं हो सकती है। विभाजन से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन-मनन करते हुए विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का जिक्र करने से समस्याओं का समाधान कतई उपलब्ध नहीं हो सकता है। जरूरी यह है कि इस विभाजन के मुख्य कारण क्या हैं? सबसे बड़ा सवाल यह है कि देश के विभाजन के लिए किसी एक को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। देश के विभाजन के लिए क्या सिर्फ माउंटबेटन को दोषी ठहराना ठीक है या सिर्फ कांग्रेस को या सिर्फ मुस्लिम लीग को? यह भी नहीं कहा जा सकता है कि देश के विभाजन के लिए गांधी, नेहरू और जिन्ना इन तीनों महापुरुषों में से कोई एक जिम्मेदार है या तीनों जिम्मेदार हैं। पूर्ण आजादी या स्वराज्य के सम्बन्ध में आम जनता यही जानती है कि कांग्रेस की नीति इस सम्बन्ध में दुविधाग्रस्त थी।

प्रेमचंद ने स्वराज्य के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा स्पष्ट की थी। इस विचार के प्रति आजादी के पहले तत्कालीन नेताओं की बीच व्यापक सहमति नहीं बन पाई थी। आजादी से पहले यदि किसी एक ऐसे लेखक पर बातचीत शुरू की जाए, जिसने आजादी के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणा दी हो, जो हिन्दी और उर्दू का सबसे बड़ा नाम हो, तो

निश्चित तौर पर प्रेमचंद का नाम सबसे पहले आएगा। प्रेमचंद ने हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में अपनी सृजनशीलता के जरिए एक खास स्थान बनाया था। आजादी के पहले ही उन्होंने भविष्य के दर्द को पहचान लिया था। स्वराज्य को समझे बिना यह नहीं कहा जा सकता कि पूरी आजादी का क्या मतलब है? 15 अगस्त, 1947 से प्राय: एक-दो दशक पहले से पूर्ण आजादी की मांग शुरू हो चुकी थी। लोगों ने यह समझ लिया कि किसान-मजदूरों की एकजुटता के बिना ब्रितानी शासन को दूर भगाना मुश्किल है।

धर्मनिरपेक्षता को मजबूत किए बिना कोई दल, मत या व्यक्ति अपनी देशभक्ति की वकालत भी नहीं कर सकता है। आजादी के पहले साहित्य में धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने की चर्चा करने वाले असंख्य रचनाकारों से मुखातिब होना पड़ता है। प्रेमचंद ने जिस तरह से धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने की चर्चा की है, वैसी चर्चा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इस बारे में कमर रईस ने लिखा है, 'प्रेमचंद ने सिर्फ यही नहीं किया कि एक व्यापक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से भारतीय समाज के हर वर्ग, हर व्यवसाय और हर आस्था के लोगों की जिन्दगी के जीवन्त चित्र प्रस्तुत किए, बल्कि अपनी रचनाओं के माध्यम से हमेशा उनका यह प्रयास रहा कि हिन्दू-मुसलमान मानसिक और भावनात्मक स्तर पर एक-दूसरे के अधिक समीप आएं। प्रेमचंद को इस बात का अहसास था कि कुछ तो स्वार्थी तत्वों के षड्यंत्रों तथा कुछ एक-दूसरे की धार्मिक शिक्षाओं और रीतियों से अनभिज्ञता के कारण हिन्दू-मुसलमान पारस्परिक संदेह और भ्रांतियों के शिकार हैं। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में सचेत भाव से और निश्चितपूर्वक इस खाई को पाटने का उपक्रम किया। ... भारत में उस समय साम्राज्यवादी पराधीनता और उसके अत्याचारों के विरोध में मुक्ति संग्राम जारी था और हिन्दू व मुसलमान दोनों इस संग्राम में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे और कर्बला की भांति इस धरती पर उनका पवित्र रक्त बह रहा था।" इसी आलेख में रईस ने लिखा है, 'प्रेमचंद के पास साझी संस्कृति की जो समझ थी वह उर्दू के बहुत कम साहित्यकारों के हिस्से में आती है। उन्होंने भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषा सम्बन्धी समस्याओं का जो बुद्धिमत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किया था, यदि उस पर अमल हो सकता तो कम से कम आज देश की वह दशा नहीं होती जो कि हुई और हो रही है।" यह भी सच है कि प्रेमचंद ने जीवन की सच्चाई को स्पष्ट करने के उद्देश्य से स्वाधीनता की अवधारणा को अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखा। धर्मनिरपेक्षता, जनतांत्रिक मूल्यों की रक्षा किए बिना कोई देशभक्त नहीं बन सकता। सही अर्थों में जनतंत्र प्रिय, देशभक्त कथानायक का नाम है प्रेमचंद। उनकी चिन्ता और चिन्तन का मुख्य विषय स्वराज्य है। उनका जीवन और लेखन दोनों ही स्वराज्य के लिए समर्पित हैं। प्रेमचंद ने कलकत्ता में प्रकाशित होने वाली मासिक

Scanned with CamScanner

पत्रिका 'विशाल भारत' के संपादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को अप्रैल, 1930 में एक पत्र लिखा। उस पत्र में उन्होंने अपनी एक आकांक्षा जाहिर की। उनकी वह आकांक्षा क्या थी, कैसी थी? यदि इन दोनों प्रश्नों के उत्तर ढूंढे जाएं, तो आज के विषय को समझने में काफी मदद मिलेगी। इसलिए उस पत्र के एक हिस्से को आपके सामने रखना चाहूंगा। प्रस्तुत है, उस पत्र की कुछ पंक्तियां–

'मेरी आकांक्षाएं कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हवस नहीं। हां, यह जरूर चाहता हूं कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूं, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विजय ही हो। ... मैं शान्ति से बैठना नहीं चाहता हूं।' उनकी उन्हीं आकांक्षाओं से पता चलता है कि वे कितने बड़े महान् देश भक्त थे। उनकी चेतना इतनी परिपक्व हो चुकी थी कि वे अपने युग की सबसे अधिक ज्वलन्त समस्या को समझते थे। उसके निराकरण ढूंढने में उन्होंने जीवन तथा लेखन समर्पित कर दिया था। स्वतन्त्रता की सही अवधारणा के बिना इतना बड़ा समर्पण नहीं हो सकता था। वैसे तो राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में हर किसी का समर्पण आदरणीय है, लेकिन प्रेमचंद का समर्पण हमें आगे बढ़ने की शक्ति देता है। इसलिए प्रेमचंद के सपने को साकार करना हमारा नैतिक दायित्व बन जाता है। जब हम इस दायित्व को निभाने के लिए आगे बढ़ते हैं, तो गांधी के संघर्षों की याद आती है। कुछ आलोचकों तथा विद्वानों ने प्रेमचंद की स्वराज्य परिकल्पना पर गांधी को थोपने का काम किया है, लेकिन प्रेमचंद ने गांधी चिन्तन की परिधि को लांघा था। 6अप्रैल, 1930 में हंस के संपादकीय में उन्होंने गांधी के आंदोलन के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है–

'... यों कहिए कि यह उन लोगों का आंदोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते हैं, जो गरीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं और यह देखकर जिनका खून खोलने लगता है कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे। इसमें न हिन्दू की खैर है, न मुसलमान की।' प्रेमचंद की यह दृष्टि है कि जो किसी को वर्ग चेतना से ही मिलती है। क्या गांधी ने कभी ऐसी बातें की? प्रेमचंद की परिकल्पना स्पष्ट है। वे स्वराज्य के आंदोलन को उन लोगों का आन्दोलन बताते हैं, जो एकमात्र स्वराज्य को अपने सारे संकटों का मोचन मानते हैं। क्या कांग्रेस या गांधी जी की यही अवधारणा थी? कांग्रेस की क्या अवधारणा थी, इसके सम्बन्ध में रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' में लिखा है–

'भारत और मुसलमान दोनों के हितों में यह है कि कांग्रेस के घोषित लक्ष्य में 'स्वराज्य' शब्द के स्थान पर 'पूर्ण स्वाधीनता' शब्द को रख दिया जाए।' कांग्रेस के नेताओं ने इसका विरोध किया और विरोध करते उन नेताओं के बयान को पाम दत्त के शब्दों में ही सुनिए–'कांग्रेस के संविधान में बुनियादी परिवर्तन हो जाएगा।'

इसका क्या मतलब है? सच तो यह है कि कांग्रेस की बुनियाद में ही पूर्ण स्वाधीनता की बात नहीं थी। मुझे तो ऐसा लगता है कि कांग्रेस या गांधी ने किसी दूसरे आशय के लिए स्वराज्य का प्रयोग किया था, जिसे न तो कांग्रेस और न ही गांधी ने परिभाषित किया था। इसी सन्दर्भ में पंडित जवाहरलाल के विचारों पर ध्यान देना जरूरी हो जाता है, जैसा कि उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, स्वराज्य के बारे में–

'... अपने लक्ष्य के बारे में स्पष्ट चिन्तन का नितांत अभाव था। आज बड़ा अजीब मालूम होता है कि हमने कैसे अपने आन्दोलन के सिद्धान्त पक्ष की ओर से, उसके दर्शन और स्पष्ट लक्ष्य की ओर से इस तरह आंखें मूंद रखी थीं। यह ठीक है कि स्वराज्य का नाम लेते ही हम सब की सरस्वती जाग उठती है, मगर हममें से शायद हर एक के पास इस शब्द का अपना अलग अर्थ था। ज्यादातर नौजवान इसका मतलब राजनीतिक स्वाधीनता या ऐसा ही कुछ समझते थे... लेकिन यह स्पष्ट है कि हमारे अधिकांश नेताओं के लिए स्वराज्य का मतलब आजादी से कोई कम चीज नहीं है। गांधी जी इस चीज के बारे में ऐसे अस्पष्ट थे कि क्या कहना और मजा यह कि वे यह पसन्द भी नहीं करते थे कि कोई इसके बारे में सफाई से सोचे।' युवा नेता पं. जवाहर लाल की यह स्थिति थी। गांधी जी स्वराज्य के सम्बन्ध में अस्पष्ट थे। उन्हीं दिनों प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' लिखना शुरू किया। उस उपन्यास में लिखते हैं–

'... मैं राजनीतिक विषयों से अलग रहना चाहता हूं, क्योंकि उसमें कोई फायदा नहीं। स्वाधीनता का मूल्य रक्त है। जब हममें उसके देने की शक्ति ही नहीं है, व्यर्थ में कमर क्यों बांधें, पैंतरे क्यों बदलें, ताल क्यों ठोकें? उदासीनता में ही हमारा कल्याण है?' सचमुच, प्रेमचंद स्वराज्य के दीवाने बन गए थे। भैरव प्रसाद गुप्त ने इसी सम्बन्ध में लिखा है–'उनकी इन रचनाओं ने कितने लोगों को स्वराज्य का दीवाना बना दिया, कौन बता सकता है?'

प्रेमचंद ने जिस स्वाधीनता का सपना देखा था, उसका क्या हुआ? आज भी बीमारियां दूर क्यों नहीं हुई? प्रेमचंद ने सावधान किया कि स्वराज्य मिलने के बाद–

'हम तो केवल अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते हैं। हमारा उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि सस्ता माल बनाकर निर्बल देशों पर पटकें और व्यापार के बहाने उन पर आधिपत्य जमाएं। इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी के कारण

Scanned with CamScanner

यूरोप की जातियों में नित्य वैमनस्य रहता है। वे एक-दूसरे को शत्रु समझते हैं। उनका भयंकर परिणाम यह महासमर (प्रथम महायुद्ध) था।'

प्रेमचंद की इच्छा यह नहीं थी कि आजादी के बाद हमारा देश पूंजीवादी पद्धति पर चले। उन्हें गरीबों, दलितों, किसानों और मजदूरों की भारी चिन्ता थी। उन्होंने 'जमाना' पत्रिका में अक्टूबर-नवम्बर, 1921 के अंक में लिखा है-' ... मजदूर और किसान एक होकर जो चाहे कर सकते हैं। उनकी शक्ति असीम है। वे जब तक बिखरे हुए हैं, घास के टुकड़े हैं। एक होकर जहाज को खींचने वाले रस्से हो जाएंगे।'

सच तो यह है कि प्रेमचंद ने कांग्रेस की समझौतावादी और वर्ग सहयोग की नीतियों को खारिज कर दिया। गरीबों, दलितों, किसानों, मजदूरों की बातें करने लगे। इसी वर्ग के पास उनकी रचनाओं में प्रमुख पात्रों की भूमिका निभाने लगे। 'रंगभूमि', 'सवा सेर गेहूं', 'सभ्यता का रहस्य' आदि कथाओं में पहली बार सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि के रूप देखने को मिलते हैं, जिनके दु:ख से हमारा दिल दहल उठता है। शोषकों-अन्यायों के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठती है। 23 अगस्त, 1933 में 'साप्ताहिक जागरण' के अंक में उन्होंने लिखा है-

'यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की दीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है।' स्वतन्त्रता के प्रति प्रेमचंद की जो स्पष्ट धारणा थी, उसे हम 'आहुति' कहानी में भी देख सकते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है-

'अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थांध बना रहे, तो मैं कहूंगा, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा।'

कुल-मिलाकर, प्रेमचंद ने शुरू-शुरू में सेवा, त्याग, बलिदान, प्रेम, न्यायप्रियता, ईमानदारी आदि मानवीय जीवन मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की। शायद इसलिए उन्होंने 'पंच-परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा', 'अनाथ लड़की', 'रूठी रानी' आदि कितनी कहानियां लिखीं। इसी कारण लोगों ने प्रेमचंद साहित्य की यात्रा का प्रस्थान बिन्दु गांधीवाद मान लिया। प्रेमचंद ने तो महात्मा के सत्याग्रह और अहिंसा के चिन्तन और दर्शन से मुंह फेर लिया। इसलिए 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने लिख दिया-'सत्याग्रह में अन्याय का दमन करने की शक्ति है। यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया है।' इसके बाद वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने गरीबों, दलितों, किसानों, मजदूरों के राज के लिए लिखना शुरू कर दिया। वक्त की पुकार को कान लगाकर सुना। इसलिए स्वाधीनता का मतलब वह नहीं रह गया, जो महात्मा या कांग्रेस के अन्य नेताओं के लिए था। प्रेमचंद के लिए स्वतन्त्रता की अवधारणा तो वह थी, जिसमें गरीबों, दलितों, किसानों

और मजदूरों का दु:ख और शोषण समाप्त हो। पर क्या हुआ? पिछले 64 सालों में स्वतन्त्र भारत के नागरिकों ने क्या देखा? झूठी बहस से न समाज चलता है और न ही दिशा मिलती है।

इसी संदर्भ में समझौते के खतरे को रेखांकित करते हुए ईएमएस नंबूदिरिपाद ने अपने लेख 'साहित्य में मानवतावाद और वर्ग संघर्ष' में लिखा है- 'यदि संकीर्णतावादी भूलें न हुई होती तो भी कम्युनिस्ट और गैर कम्युनिस्ट लेखकों के बीच का संघर्ष था।....समझौता करने का अर्थ साहित्य के सवाल पर मार्क्सवाद के बुनियादी द्वंद्वात्मक और भौतिकवादी सिद्धांत को तिलांजलि देना था।'[४] साहित्य में मुक्ति की अवधारणा को खत्म करने का प्रयास विभिन्न समय पर चलता रहा। आजादी के बाद इस मुक्ति को तेज करने की चेष्टा वर्चस्ववादी सिद्धान्त के जरिए करने की कोशिश की गयी, लेकिन उसमें कोई खास सफलता नहीं मिली। इसका कारण यही हैं कि साहित्य में वर्ग संघर्ष के बिना मानवतावाद की रक्षा नहीं की जा सकती है। जो साहित्य को सिर्फ मानवतावादी दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं, वे भी किसी न किसी रूप में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया को ही तेज करने की मुहिम चलाते हैं। कोई ऐसा चेतना संपन्न लेखक नहीं है, जिसने मानवतावाद के नाम पर उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया हो।

सभी लेखक एक स्वर में स्वीकार करते हैं कि उपनिवेशवाद के चलते समाज की अग्रगति उस रूप में नहीं हो पायी, जिस रूप में होनी चाहिए थी। तब आज यह क्यों सुना जाता है कि इससे अच्छा वही था यानी आज के केन्द्रीय शासन की अपेक्षा ब्रितानी शासन ही अच्छा था।

1. क्या इस तरह की बातों में ब्रितानी शासन का जय-गान छिपा हुआ है; बिल्कुल नहीं। सवाल यह है कि आज का केन्द्रीय शासन भी उसी ब्रितानी संरचना पर चल रहा है, जिसका मुख्य उद्देश्य है- शोषण और शोषण....। तभी तो पिछले तीन सालों में भारत में बिलियनरों की संख्या 59 होती है तथा नये सिरे से गरीब बनने वालों की संख्या एक करोड़ पच्चीस लाख हो जाती है। साहित्य और विचाराधारा के अन्तर्गत कभी इस व्यापक संख्या को भुलाया नहीं जा सकता। असल तो यही है कि 14 अगस्त 1947 के बाद हमारा देश जिस ओर बढ़ा वह दिशा ही गलत थी। साम्राज्यवादियों के चंगुल से बाहर निकलकर पुन: उन्हीं शक्तियों के तलवे सहलाने का क्या मतलब है। मतलब चाहे जो हो; इस राह पर देश-दुनिया का विकास नहीं हो सकता है। महत्वपूर्ण यह है कि सारी अभिव्यक्तियों की तरह साहित्य की जड़ें भी समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों में होती हैं।

इसी कारणवश किसी रचना का मूल्यांकन समाज, देशकाल और युगीन भौतिक

Scanned with CamScanner

परिस्थितियों को काटकर नहीं किया जा सकता है। हालांकि उसका निजी व्यक्तित्व भी होता है। किसी महान लेखक की प्रतिभा का सृजन भी उसके बिना असंभव है, चाहे होमर हों या शेक्सपियर, कालिदास हों या तुलसीदास। इस सम्बन्ध में नंबूदिरिपाद का मत इस तरह है ' अन्य भौतिक और बौद्धिक रचनात्मक क्षेत्रों में लगे लोगों की ही तरह लेखक का भी एक व्यक्ति के रूप में अपना निजी व्यक्तित्व होता है जो कि उसकी रचना पर छाप छोड़ता है। यही कारण है कि एक ही प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण विभिन्न प्रकार के लेखकों को विकसित करता है और यहां तक कि एक ही लेखक भिन्न स्तर की रचनाएं प्रस्तुत करता है।"

उल्लेखनीय है कि अब तक के सारे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। स्वामी और दास, अभिजात वर्ग और जनसामान्य, भूस्वामी और भूदास, मालिक और नौकर के बीच संघर्ष होता रहा है। यह संघर्ष कभी खुलकर होता है, तो कभी किसी अन्य रूप में होता है। लेकिन संघर्ष अनवरत रूप में चलता है। इसका अंत हर युग में व्यापक समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन से या युद्धरत वर्गों के विनाश में हुआ है। आजादी के बाद हमारे देश में वर्ग शत्रुता को सरलीकृत करने का प्रयास किया गया। इस प्रयास से सच को झुठलाया नहीं जा सकता है। वैसे जीवन के कई ऐसे क्षेत्र हैं, जहां वर्ग संघर्ष प्रच्छन्न रूप से चलता है, लेकिन ऊपर से दिखाई नहीं पड़ता कई ऐसे सिद्धान्त और विचार हैं, जो ऊपर से देखने पर पता चलेगा कि उसका सम्बन्ध किसी वर्ग से नहीं है, पर गहराई में उतरने के बाद यही पता चलेगा कि 'वर्गेतर' चरित्र के पीछे वर्ग संघर्ष का सच कार्यरत है। इसके बावजूद लेखक की भूमिका होती है, जैसा कि ई एम एस नंबूदिरिपाद ने लिखा है–' कला की रचना में लेखक की व्यक्तिगत भूमिका को नकारना उतना ही हास्यास्पद होगा जितना कि उसे समाज से भी ऊपर आसमान में स्थापित कर देना जिसमें कलाकार ने जन्म लिया है।"

यह सच है कि कोई लेखक कितना भी महान क्यों न हो, अपने जीवन या साहित्य में वर्ग संघर्ष से दूर नहीं रह सकता है। आजादी के बाद की स्थितियों का मूल्यांकन किस रूप से करना चाहिए इस पर गौर करना जरूरी है। इस बारे में मार्क्सवादी चिंतक हरकिशन सुरजीत ने अपनी पुस्तक 'भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास, एक रूपरेखा' में लिखा है–' जब उपनिवेशवाद से भयभीत होकर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और राष्ट्रीय कांग्रेस में एक सौदा हुआ और 15 अगस्त 1947 के दिन भारत को आजाद कर दिया गया। अलबत्ता देश के विभाजन की शक्ल में इसकी कीमत चुकानी पड़ी।"इस आजादी के लिए भारतवासियों को भारी कीमत चुकानी पड़ी, इसमें कोई संदेह नहीं है। कितने लोग मारे गए, कितने लोगों को घर छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा इसका कोई अन्दाज नहीं लगा सकता है। वैसे कई शोध किए गए हैं। अनुमान लगाया जाता है कि विभाजन की त्रासदी कैसी रही; इस सम्बन्ध में अनिता इंदर सिंह ने अपनी पुस्तक Partition of India में लिखा है–

"The Partition of British India in 1947 was one of the most Cateclymic events in world history and the debate on it is endless. It was one of several portions that were carried out in Europe, Asia, Africa and the Middle East since the eighteenth century. Like most of them it was attended by and exacerbated violence between, different religious communities. The numbers killed, displaced and dispossed in the portion of India is unknown. Anything between 200,000 and three million people may have lost their lives. Between 1946 and 1951. Some nine million Hindus and Sikhs crossed over into India from Pakistan and about Six million Muslims went Pakistan from India."

इस पुस्तक में अनिता इंदर सिंह ने बड़ी स्पष्टता के साथ यह सवाल उठाया है कि कांग्रेस की क्या कमजोरी थी, जिसकी वजह से हमारा वतन टूट गया। इस टूट के चलते जो टीस उत्पन्न हुई, उसका इलाज असंभव है। यदि धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की रक्षा की जाती, तो कुछ काम बन सकता था, जो नहीं हो पाया। उन्होंने इसी पुस्तक में लिखा है–"Failure to win our Muslim voters was the greatest weakness of the congress; with mass backing it could have routed the muslim league. Independence without partition would then have been possible."[3] उन्होंने यह भी बताया है जब तक साम्प्रदायिकता को वैचारिक और राजनीतिक स्तर पर परास्त नहीं किया जा सकता, तब तक इस देश के भविष्य को खुशहाल नहीं बनाया जा सकता है। जैसा कि उन्होंने लिखा है– "In 1947 India paid a heavy price for freedom because communal forces were not defeated politically and ideologically In the 21st century congress wants India to stop paying this price it must strong then its secular base and trounce communal forces for all times."[4] कट्टरपंथी-साम्प्रदायिक शक्तियों को कुचलना आसान नहीं होता, क्योंकि शासन किसी न किसी तरह उसे पीछे से मदद देता है। यदि शासकवर्ग चाहे कि साम्प्रदायिकता को पूरी तरह समाप्त किया जाए तो वह उस कार्य में सफल हो सकता है लेकिन यदि वह साम्प्रदायिकता के साथ समझौतापरस्ती रुख अपनाता है उससे खतरा उत्पन्न होता है। दंगे होते हैं। शासक वर्ग की कमजोरी के कारण रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का झगड़ा एक लाइलाज बीमारी है। शासक वर्ग की कमजोरी के कारण गुजरात नरसंहार हुआ। आश्चर्य तब होता है, जब सत्ता हस्तांतरण के समय गांधी जैसे महान नेता को

Scanned with CamScanner

दरकिनार कर दिया जाता है। सत्ता की इसी शक्ति की जांच करते हुए माधव गोडबोले ने अपनी पुस्तक में लिखा है-

"Gandhi was the Supreme Leader of the Congress Party though he was not even a "four Anna member" of the party. His decisions had invariably gone unchallenged except during the crucial negotiations leading to independence of the century. But, Gandhi who emerges from the historical records of this period is far from the towering figure that he was in the earlier freedom struggle. He makes no secret on his self-pity and frastration. He is more a caricature of Gandhi of the earlier times. He seems out of date and out of tune with the times. His naivete is unbelievable. It is no surprise that he was marginalized so totally in the final negotatiations for the transfer of power."

गांधी को दरकिनार करने से शासक वर्ग को चाहे जो मिला हो, पर यह सच है कि हजार खूबियों-खामियों के बावजूद धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की रक्षा करने के सिलसिले में गांधी का अवदान इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। पर आजादी के बाद क्या हुआ; इसके चित्र असंख्य उपन्यासों में मिल जाएंगे। लेकिन अरविन्द अडिग के उपन्यास 'व्हाइट टाइगर' पर द्रोणवीर कोहली ने जो लिखा है, उस पर ध्यान देना जरुरी है। द्रोणवीर कोहली ने 'पिछड़ों को स्वर देने का रचनात्मक प्रयास' आलेख में आजादी मिलने की स्थिति पर इस तरह दिया है-' आजादी मिलने के साथ इस देश में कैसा नंगा नाच हुआ, इसका वर्णन कुछ ही शब्दों में लेखक ने बड़े सटीक ढंग से किया है। वह बताता है कि 15 अगस्त 1947 को जब अंग्रेज इस देश से निकले, तो एक पिंजरा खुल गया और जानवरों ने एक-दूसरे को चीरना-फाड़ना शुरु कर दिया और जंगल कानून की जगह अजायबघर का कानून लागू हो गया। स्कूलों में बच्चों को मुफ्त भोजन देने का खूब प्रचार होता है। लेकिन बच्चों के मुंह से निवाला छीनने वाले किस तरह की धांधलेबाजी करते हैं!....सारा पैसा स्कूल टीचर खा जाता है। इसका औचित्य मास्टर जी यह बताते हैं कि उसे छः छः महीने वेतन नहीं मिलेगा, तो वह ऐसा क्यों नहीं करेगा फिर टीचर क्लास में आता जरुर है, लेकिन बैठा-बैठा पान की पीक से फर्श और दीवारों को गन्दा करता रहता है।...बच्चे ऐसी हालत के क्या करते हैं, क्या सीखते हैं, इसकी तरफ कौन ध्यान देता है।"[11] जबिक गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास का इतिहास' में 'विमर्श के नए क्षितिज' शीर्षक से एक लेख में जिक्र किया है-' 15 अगस्त 1947 की तारीख भारतीय इतिहास की एक ज्वलंत घटना इसलिए है कि उसने भारतीय जीवन को झटके के साथ एक ऐसे समय-बिन्दु पर खड़ा कर दिया, जहां से उसकी प्रकाश-यात्रा आरम्भ होती है। पैंतीस करोड़ जनता की औपनिवेशिक शासन से मुक्ति, संसार के सबसे बड़े प्रजातंत्र का जन्म, जनता की सामंती शोषण से मुक्ति का लालसा भरा स्वप्न और ऐसी अनेक बातें 15 अगस्त 1947 की तारीख से जुड़ी हुई हैं। 'नियति से मुलाकात' की इस तारीख की, साहित्य के इतिहास में भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।'[12] पर क्या सामंती शोषण का अंत हुआ। ऐसा नहीं लगता कि उपनिवेशवाद का हमला और तेज हो गया। रामराज का सच सामने आ गया, जैसा कि हिन्दी के लोकप्रिय कवि नागार्जुन ने अपनी कविता 'रामराज' में लिखा है-'रामराज में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है। सूरत शक्ल वही है भैय्या बदला केवल ढांचा है/ नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों/धरती माता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है।'[13]

बाबा की बात ही सच जान पड़ती है। सत्ता हस्तांतरण से जनता को लाभ नहीं हुआ। देश विभाजन से फसाद बढ़ा। इससे समाज की स्थिति में कैसा परिवर्तन आया, उसका जिक्र हरिशंकर परसाई ने 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र,' इस तरह किया है- 'लेकिन हम नहीं बजा रहे हैं, फिर भी तालियां बज रही है। मैदान में जमीन पर बैठे वे लोग बजा रहे हैं, जिनके पास हाथ गरमाने के लिए कोट नहीं है। लगता है, गणतंत्र ठिठुरते हुए हाथों की तालियों पर टिका है। गणतंत्र को उन्हीं हाथों से ताली मिलती है, जिनके पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है।'[14] सभी जानते हैं कि आजादी के मात्र अड़तालीस घन्टे में राजधानी में भयानक सांप्रदायिक दंगे हुए। हत्या, संत्रास का वातावरण फैलने लगा। इस बारे में एन ई विश्वनाथ अय्यर ने लिखा है- 'स्वतंत्रता हर्ष व उल्लास का शासन हो सकी तो स्वतंत्रता प्राप्ति का दूसरा पक्ष देश-विभाजन-अप्रत्याशित अंधकार और सर्वनाश का हो गया। उसका घाव देश के शरीर पर ऐसा गहरा पड़ा...प्रजातंत्रवाद के आवरण के नीचे सांप्रदायिकता की चिनगारी धुंधुआ रही है। राजनीतिक क्षेत्र में यह कहीं-कहीं जंगल की आग बन जाती है। देश की पराधीनता का विकट रूप, अंग्रेजों का दंभ, उनसे मुक्ति और बराबरी का लाभ आदि सच्चे देश-प्रेमी पहचानते हैं। वे देश के सांप्रदायिक भेद-भाव को समाप्त करना चाहते हैं। देशवासियों का राष्ट्रीय स्तर पर चिंतन और उदार होना जरूरी है। इस चिंतन की प्रेरणा स्वतंत्रता प्राप्ति एवं देश विभाजन के आधार पर लिखी सफल रचनाओं से मिलती है। इन दोनों घटनाओं का सशस्त्र प्रभाव भारतीय कथा साहित्य पर खूब पड़ा है। पंजाब, कश्मीर व उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली एवं कलकत्ता नगर भुक्तभोगी है। इसलिए इन प्रदेशों की भाषाओं में पूर्वोक्त विषयों की रचनाएं अपेक्षाकृत बहुत अधिक लिखी गई।'[15]

इस तरह देखा जाता है कि आधुनिक आर्य भाषाओं के सहित्य पर देश विभाजन और आजादी का काफी प्रभाव है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत 'झूठा-सच' 'तमस,' 'कितने

Scanned with CamScanner

पाकिस्तान' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। उन सभी उपन्यासों में विभाजन की त्रासदी का इसलिए उल्लेख किया गया, ताकि भुक्तभोगी यथार्थ को समझा जा सके। इस यथार्थ को समझे बिना उग्र संघर्ष की प्रक्रिया को तेज नहीं किया जा सकता है। भारत के विभाजन को सिर्फ कार्य और कारण के संबंध में नहीं देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रो. देवीप्रसाद मौर्य ने अपनी पुस्तक 'जीवन का यथार्थ और वर्तमान जगत' में लिखा है–'कार्य कारण सम्बन्ध में कहीं भी विच्छिन्नता नहीं है। परिवर्तनों में विभिन्न अवस्थाएं हैं। अजस्र प्रवाह में वर्तमान प्रक्रिया में एक वस्तु अपने होने की स्थिति से अपने नहीं होने की स्थिति में बदलते जाने की द्वन्द्वात्मकता को प्रतिफलित करती है। आदर्शवादी और यथार्थवादी चिन्तन का यही प्रमुख भेद है–आदर्शवादी अविच्छिन्न स्थितियों का विवेचन करते हैं जबकि यथार्थवादी सभी प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं के भीतर एक अविच्छिन्न परम्पराकलम्बित प्रवाह को देखते हैं। कहीं कुछ भी पूर्णतया विच्छिन्न नहीं है।'[6] आधुनिक समय में मानव की स्वाधीनता को महत्व देना ही होगा।

भारत की आजादी को समझना बेकार लगता होगा, लेकिन विभाजन की त्रासदी को भी समझना होगा। इसलिए कि इस सच को समझे बिना हमारा वास्तविक उत्थान नहीं हो सकता है। इस उत्थान के लिए हमें सतत प्रयत्नशील रहना होगा। आजादी और सुख प्राप्ति मानव की इच्छा है। इसे कौन खत्म करेगा? एक क्या हजारों विभाजन में भी इतनी ताकत नहीं है कि इसे खत्म कर सके। यही कारण है कि आजादी के बाद समाज में असमानता, अन्याय और शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध बढ़ता चला जा रहा है। इस प्रतिरोध को कोई नहीं रोक सकता। यही प्रतिरोध मानव सभ्यता की जीत का पर्याय बनेगा। इस बारे में प्रो. देवीप्रसाद मौर्य ने अपनी इसी पुस्तक में लिखा–'आने वाली शताब्दी विज्ञान, प्रजातंत्र और समाजवादी प्रयोगों की होगी। इन प्रयोगों में सभी संस्कृतियों का अवदान होगा। यदि मानव जाति को आगामी सहस्राब्दी में सक्रिय बने रहना है, तो सामाजिक सद्भाव और सांस्कृतिक विविधता के सिद्धान्त को मान्यता देना होगा। निश्चित ही पूंजीवाद के पास मानवीय समस्याओं के समाधान नहीं हैं। यदि वह अगली शताब्दी तक विलोपित नहीं होता है, तो मानवता को महाविनाश से बचाना बहुत मुश्किल होगा।'[7] और जहां महाविनाश के संकेत ज्यादा होते हैं वहां प्रतिरोध भी मजबूत होता है। इस सिलसिले में जानकी प्रसाद शर्मा ने 'उर्दू साहित्य की परम्परा' पुस्तक में पाकिस्तान में प्रतिरोध की शायरी पर टिप्पणी करते हुए लिखा है–'एक रचनाकार अपने पक्ष को रखने हेतु राजनीतिक घटनाओं को भी मौजू बना सकता है और ठीक प्रकार प्रेम और सौन्दर्य भी

उसके भावजगत का हिस्सा बन सकते हैं। पाकिस्तान की शायरी में ये दोनों रूप आसानी से देखे जा सकते हैं। दिनों दिन बढ़ते हुए दमन ने शायरी में प्रतिरोध का स्वर पैदा किया।'[8]

धर्मनिरपेक्षता की बुनियाद मजबूत करने से प्रतिरोध की क्षमता बढ़ती है। आज भी इस प्रतिरोध को बढ़ाने की आवश्यकता है। इस बारे में यह कहना जरूरी है कि जिन्ना भी एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति थे। उनके सम्बन्ध में डॉ. अजीत जावेद ने अपनी पुस्तक 'जिन्ना की त्रासदी' में लिखा है–'जिन धर्मनिरपेक्षता के समर्थक थे। वे अपने विचारों में, देखने में तथा अपने क्रियाकलापों में आधुनिक, प्रगतिशील और अग्रेसरवादी थे। साम्प्रदायिक भावनाओं तथा पूर्वाग्रहों का उनके निजी तथा सार्वजनिक जीवन में कोई स्थान नहीं था। यही कारण है कि वे भारतीय युवाओं के आदर्श पुरुष बन गए थे तथा तत्कालीन भारतीय समाज के समस्त धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी लोग उन्हें प्यार करते थे तथा उनकी प्रशंसा एवं सम्मान करते थे।'[9]

इसके बावजूद देश के विभाजन को रोका नहीं जा सका। जब कोई व्यक्ति और दल देश का विभाजन नहीं चाहता था, तब विभाजन क्यों हुआ? और इस विभाजन के बाद मुल्क की सम्प्रभुता को बचाने के साथ-साथ खून खराबा बलवा, दंगा फसाद को रोकने के लिए कौनसा प्रयास किया जाए, यही सबसे बड़ा सवाल है। स्वाधीनता को मंगल भावना से मिलने की जरूरत है। तभी जाकर मानव का वास्तविक कल्याण संभव है। जैसा कि रविन्द्रनाथ ने 'स्वातन्त्र्य का परिणाम' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि मानव का स्वातन्त्र्य जब मंगल के साथ मिलकर समस्त संघर्षों का निवारण करते हुए सुन्दर हो उठता है तभी वह आत्मसमर्पण के लिए प्रस्तुत होता है। इस आत्मसमर्पण का अर्थ है विश्वात्मा के साथ मिलन। हमारी अदमनीय स्वाधीनता जब मंगल सोपान पर चढ़कर प्रेम तक जा पहुंचती है तभी वह सम्पूर्ण होती है और वही उसकी स्वाभाविक समाप्ति है। बाद बाकी कुंवर नारायण के शब्दों में किस मायानगरी में भटक रहे हो सुदामा? यह द्वारिका तो दिल्ली का एक छोटा-सा मोहल्ला है।

संदर्भ सूची :

1. रईस, कमर, प्रेमचंद की विचार यात्रा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, जून 1995, पृष्ठ 41
2. रईस, कमर, प्रेमचंद की विचार यात्रा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, जून 1995, पृष्ठ 45

Scanned with CamScanner

3. नंबूदिरिपाद ई एम एस, स्वाधीनता शारदीय विशेषांक-2003, कोलकाता, पृष्ठ 70
4. नंबूदिरिपाद ई एम एस, स्वाधीनता शारदीय विशेषांक-2003, कोलकाता, पृष्ठ 64
5. नंबूदिरिपाद ई एम एस, स्वाधीनता शारदीय विशेषांक-2003, कोलकाता, पृष्ठ 66
6. सिंह, 'सुरजीत' हरकिशन, भारत में कम्युनिष्ट आन्दोलन का इतिहास: एक रूपरेखा, नई दिल्ली, नेशनल बुक सेंटर, पृष्ठ-46
7. Singh, Anita Inder, The Partition of India, National Book Trust, India, New Delhi, 2006, पृष्ठ 1
8. Singh, Anita Inder, The Partition of India, National Book Trust, India, New Delhi, 2006, पृष्ठ 91
9. Singh, Anita Inder, The Partition of India, National Book Trust, India, New Delhi, 2006, पृष्ठ 91
10. Godbole Madhav, The Holocaust of Indian Partition; An Inguest, Rupa & Co. New Delhi, 2006 पृष्ठ 243-244
11. कोहली द्रोणवीर, पिछड़ों को स्वर देने का रचनात्मक प्रयास, पूर्वग्रह-124, प्रधान संपादक- श्रोत्रिय प्रभाकर, भारत भवन, जनवरी-मार्च-2009, भोपाल, पृष्ठ-50
12. राय गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाश, नई दिल्ली, 2002 पृष्ठ 196
13. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली भाग-1, रामराज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2003, पृष्ठ 132
14. परसाई हरिशंकर, ठिठुरता हुआ जनतंत्र, प्रेमचंद फटे जूते, सं. ज्ञानरंजन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ-40
15. अय्यर, एन.ई. विश्वनाथ, तुलनात्मक साहित्य, विधा विहार, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 171-172
16. मौर्य देवीप्रसाद, जीवन का यथार्थ और वर्तमान भारत, कल्पज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 351
17. मौर्य देवीप्रसाद, जीवन का यथार्थ और वर्तमान भारत, कल्पज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 362
18. शर्मा जानकीप्रसाद, उर्दू साहित्य की परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 362
19. जावेद डॉ. अजीत, जिन्ना की त्रासदी, संवाद प्रकाशन, मुंबई, 2004, पृष्ठ-116

हिन्दी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

Scanned with CamScanner